
इकाई 2 संज्ञा प्रकरण – भाग 2

इकाई की रूपरेखा

- 2.0 उद्देश्य
- 2.1 प्रस्तावना
- 2.2 तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्..... सुप्तिङन्तं पदम् सूत्र तक ।
- 2.3 सारांश
- 2.4 शब्दावली
- 2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें
- 2.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

2.0 उद्देश्य

प्रस्तुत इकाई के विधिवत् अनुशीलन के पश्चात् आप—

- 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र से लेकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' तक के सूत्रों का ज्ञान कर सकेंगे।
- 'यत्न' और 'प्रयत्न' में भेद जान सकेंगे।
- 'ऋ' और 'लृ' वर्ण की सवर्ण संज्ञा का ज्ञान कर सकेंगे।
- बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न के विषय में जान सकेंगे।
- वर्णों के उच्चारणस्थान को जान सकेंगे।
- 'सुबन्त' और 'तिङन्त' का ज्ञान कर सकेंगे।

2.1 प्रस्तावना

पूर्व इकाई में आपने मङ्गलाचरण से लेकर 'मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः' तक के सूत्रों का अध्ययन किया। इस इकाई में 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से लेकर 'सुप्तिङन्त पदम्' तक के सूत्रों की व्याख्या की गयी है। प्रस्तुत इकाई में वर्णों की सवर्ण संज्ञा, उसके बाह्य एवं आभ्यन्तर प्रयत्न आदि के विषय में बहुत विस्तार से बताया गया है। साथ ही एक महत्वपूर्ण बिन्दु का उल्लेख (जो कि प्रथम इकाई में ही करना था किन्तु शब्द मर्यादा के भय से छूट गया) आवश्यक है और वह यह है कि माहेश्वर सूत्र में सभी वर्ण एक बार पढ़े गये हैं, जबकि हकार (ह) दो बार पढ़ा गया है तो क्यों? इसका समाधान है कि, 'अट्' प्रत्याहार और 'शल्ल' प्रत्याहार को चरितार्थ करने के लिए ऐसा किया गया है। यह 'अर्टेण' और 'अधुक्षत्' की सिद्धि में उपयोगी है। इसका यथास्थान विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया जायेगा।

पुनः प्रस्तुत इकाई में यत्न और प्रयत्न का भेद स्पष्ट करते हुए बाह्य और आभ्यन्तर प्रयत्नों के प्रकारों का भी विस्तार से विवेचन किया गया है। यहीं पर 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र, जिसे ग्रहणशास्त्र (गृहयते अकारदीनां भेदः येन तद्ग्रहणकम्, स्वार्थे

का ग्रहण न करायेगा। इससे प्राङ् आदि प्रयोगों में नकार को ङकार न होकर अनिष्ट प्रयोग सिद्ध होंगे।

इसका समाधान यह है कि 'आस्य(मुख)+प्रयत्न' के तुल्य होने का उल्लेख है। 'आस्य' का अर्थ मुख में होने वाला प्रयत्न या स्थान है। ककार और ङकार का मुख में होने वाला स्थान 'कण्ठ' तुल्य ही है। 'नासिका' तो मुख से बाहर का स्थान है; फिर चाहे वह तुल्य हो या न हो, चिन्ता नहीं, सवर्ण संज्ञा हो जाती है। स्मरण रहे कि 'ए' और 'ऐ' की तथा 'ओ' और 'औ' की सम्पूर्ण स्थान और प्रयत्न के साम्य होने पर भी सवर्ण संज्ञा नहीं होती है। कारण यह है कि आचार्य पाणिनि ने 'एओङ्' और 'ऐओच्' सूत्रों का अलग-अलग निर्देश किया है।

वार्तिक – ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यं वाच्यम्।

अर्थ – ऋकार और लृकार वर्णों की परस्पर सवर्ण संज्ञा कहनी चाहिए।

व्याख्या – 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' सूत्र के अनुसार ककार और लृकार की सवर्ण संज्ञा नहीं हो सकती; क्योंकि ऋकार का स्थान 'मूर्धा' है और लृकार का 'दन्त' है किन्तु 'तवल्कारः' आदि प्रयोगों के लिए इनकी सवर्ण संज्ञा करना आवश्यक है। अतः इस त्रुटि की पूर्ति आचार्य कात्यायन ने इस वार्तिक द्वारा की है। अतः दोनों का स्थान साम्य न होने पर भी सवर्ण संज्ञा सिद्ध हो जाती है। सवर्ण संज्ञा में स्थान और प्रयत्न का उपयोग होने से उनका विवेचन किया जा रहा है। यथा –

अकुहविसर्जनीयानां कण्ठः।

अर्थ – (अठारह प्रकार के) अवर्ण, कवर्ण, हकार तथा विसर्ग का उच्चारणस्थान कण्ठ होता है।

व्याख्या – 'अकुहविसर्जनीयानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'कण्ठः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास –** अश्च कुश्च हश्च विसर्जनीयश्च अकुहविसर्जनीयाः, तेषाम् अकुहविसर्जनीयानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहाँ पर विसर्जनीय और विसर्ग एकार्थवाची हैं। ध्यान देने की बात है कि विसर्ग का कण्ठ स्थान तभी होता है जब वह अकाराश्रित या अकार से परे होता है, जैसे – रामः। जब विसर्ग इकाराश्रित होगा तो, उसका उच्चारणस्थान तालु होगा, जैसे – हरिः। इसी प्रकार भानुः में ओष्ठ उच्चारणस्थान होगा। पाणिनीय शिक्षा में कहा गया है—

'अयोगवाहा विज्ञेया आश्रयस्थान भागिनः।' (पा. शि. 22)

अयोगवाहों (यम, अनुस्वार, विसर्ग, जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय) का वही उच्चारणस्थान होता है जिसके वे आश्रित होते हैं। यम और अनुस्वार नासिकास्थानीय ही होते हैं, क्योंकि शिक्षा में कहा गया है—

'अनुस्वारयमानाञ्च नासिका स्थानमुच्यते।' (पा. शि. 22)

अब अयोगवाहों में शेष रहे— जिह्वामूलीय, उपध्मानीय और विसर्ग। इनमें से जिह्वामूलीय का 'जिह्वामूल' ही स्थान निश्चित है; इसी प्रकार उपध्मानीय भी सदैव पकार या फकार के आश्रित होने से ओष्ठस्थानीय ही रहते हैं। अब बचा केवल

विसर्ग। यह जिसके आश्रित (रामः, हरिः, भानुः आदि) होगा वही-वही उच्चारणस्थान होगा।

इचुयशानां तालु।

अर्थ — (अठारह प्रकार के) इकार, चु (चवर्ग), यकार (अनुनासिक एवं अननुनासिक) तथा शकार का तालु स्थान होता है।

व्याख्या — 'इचुयशानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'तालु' प्रथमा विभक्ति एकवचन।

समास — इश्च चुश्च यश्च शश्च इचुयशाः तेषाम् इचुयशानाम् इतरेतर द्वन्द्वः। यहाँ पर 'इ' से सम्पूर्ण अठारह प्रकार का इकार, 'चु' से चवर्ग, 'य' से अनुनासिक एवं अननुनासिक दो प्रकार का यकार गृहीत होता है। दांतों के पीछे जो कठिन मुख की छत है उसे 'तालु' कहते हैं।

ऋटुरषाणां मूर्धा।

अर्थ — अठारह प्रकार के ऋवर्ण, टवर्ग, रेफ तथा षकार का 'मूर्धा' स्थान होता है।

व्याख्या — 'ऋटुरषाणाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'मूर्धा' प्रथमा विभक्ति एकवचन।

समास — आ च टुश्च रश्च षश्च ऋटुरषाः; तेषां ऋटुरषाणाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। तालु स्थान के पीछे मुख की छत का जो कोमल भाग है, उसे मूर्धा कहते हैं। षकार आदि के उच्चारण में विशेष ध्यान रखना चाहिए।

लृतुलसानां दन्ताः।

अर्थ — (बारह प्रकार के) लृकार, तवर्ग तथा दो प्रकार के लकार (अनुनासिक एवं अननुनासिक) तथा सकार का स्थान 'दन्त' होता है।

व्याख्या — 'लृतुलसानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'दन्ताः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन।

समास — आ च तुश्च लश्च सश्च लृतुलसाः; तेषां लृतुलसानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। यहाँ 'दन्त' से तात्पर्य ऊपर वाले दांतों के पीछे साथ लगे हुए मांस से है। अतः भग्न दांतों वाला व्यक्ति भी इन वर्णों का उच्चारण कर सकता है।

उपूपध्मानीयानामोष्ठौ।

अर्थ — अठारह प्रकार के उकार, पवर्ग तथा उपध्मानीय (प=फ) का उच्चारणस्थान ओष्ठ होता है।

व्याख्या — 'उपूपध्मानीयानाम्' षष्ठी विभक्ति बहुवचन, 'ओष्ठौ' प्रथमा विभक्ति द्विवचन।

समास — उश्च पुश्च उपध्मानीयश्च उपूपध्मानीयाः; तेषाम् उपध्मानीयानाम्; इतरेतरद्वन्द्वः। अच् से परे तथा पकार फकार से पूर्व = (आधे विसर्ग की मात्रा) इस प्रकार की मात्रा उपध्मानीय होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा।

जमङ्गनानां नासिका च।

अर्थ — ज् म् ङ् ण् न् इन पाँच वर्णों का 'नासिका' स्थान भी होता है।

व्याख्या – जश्च मश्च ङश्च णश्च नश्च जमङ्गनाः, तेषां जमङ्गनानाम्, इतरेतरद्वन्द्वः। आदिष्वकार उच्चारणार्थः। यहाँ मूल में च ग्रहण का प्रयोजन है कि इन वर्णों का अपने-अपने वर्णों का स्थान भी होता है, यथा – जकार का तालु स्थान और नासिका स्थान दोनों हैं। इसी प्रकार मकारादि में भी समझना चाहिए।

एदैतोः कण्ठतालु।

अर्थ – बारह प्रकार के एकार तथा ऐकार का 'कण्ठ' और 'तालु' स्थान होता है।

व्याख्या – 'एदैतोः' षष्ठी विभक्ति द्विवचन, 'कण्ठतालु' प्रथमा विभक्ति एकवचन। एच्च ऐच्च एदैतौ, तयोः एदैतोः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठश्च तालु च कण्ठतालु। प्राण्यङ्गत्वात् समाहरद्वन्द्वः। यहाँ मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिए, तपर नहीं।

ओदौतोः कण्ठोष्ठम्।

अर्थ – बारह प्रकार के 'ओकार' तथा 'औकार' का उच्चारणस्थान 'कण्ठ' और 'ओष्ठ' होता है।

व्याख्या – 'ओदौतोः' प्रथमा विभक्ति द्विवचन, 'कण्ठोष्ठम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन।
समास – ओच्च औच्च ओदौतौ तयोः ओदौतोः, इतरेतरद्वन्द्वः। कण्ठश्च ओष्ठौ च कण्ठोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः। ओत्वोष्ठयोः समासे वा इति वार्तिकेन पररूपता। पूर्ववत् यहाँ भी मूल में तकार मुख-सुखार्थ ही समझना चाहिए।

वकारस्य दन्तोष्ठम्।

अर्थ – वकार का दन्त और ओष्ठ स्थान होता है।

व्याख्या – 'वकारस्य' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'दन्तोष्ठम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन।
समास – दन्ताश्च ओष्ठौ च दन्तोष्ठम्, प्राण्यङ्गत्वात् समाहारद्वन्द्वः। 'ओत्वोष्ठयोः समासे वा' इति वार्तिकेन पररूपता। जो लोग वकार (व) के उच्चारण में दोनों ओष्ठों का प्रयोग करके उसे बकार (ब) बना देते हैं उन्हें यह नियम ध्यान से पढ़ना चाहिए।

जिह्वामूलीयस्य जिह्वामूलम्।

अर्थ – जिह्वामूलीय का स्थान जिह्वा की जड़ होता है।

व्याख्या – 'जिह्वामूलीयस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, 'जिह्वामूलम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अच् से परे तथा ककार खकार से पूर्व = ऐसा (अर्ध विसर्ग) चिह्न जिह्वामूलीय का होता है। इसका विस्तृत विवेचन आगे इसी प्रकरण में किया जायेगा।

नासिकाऽनुस्वारस्य।

अर्थ – नासिका को अनुस्वार का उच्चारणस्थान कहा गया अर्थात् अनुस्वार का उच्चारणस्थान 'नासिका' है।

व्याख्या – 'नासिका' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'अनुस्वारस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन। अच् से परे = इस प्रकार का चिह्न 'अनुस्वार' कहलाता है। इसका विवेचन आगे मूल में ही किया जायेगा।

इस प्रकार यहाँ उच्चारणस्थान का प्रसंग समाप्त हुआ – (इति स्थानानि)। आगे बाह्य और आभ्यन्तर यत्न के विषय में कहा जा रहा है –

यत्नो द्विधा, आभ्यन्तरो बाह्यश्च। आद्यः पञ्चधा—
स्पृष्टेषत्स्पृष्टेषद्विवृतविवृतसंवृतभेदात्। तत्र स्पृष्टं प्रयतनं स्पर्शानाम्।
ईषत्स्पृष्टमन्तःस्थानाम्। ईषद्विवृतमूष्णाम्। विवृतं स्वराणाम्। ह्रस्वस्यावर्णस्य
प्रयोगे संवृतम्। प्रक्रियादशायां तु विवृतमेव।

अर्थ — यत्न दो प्रकार का होता है। एक 'आभ्यन्तर' और दूसरा 'बाह्य'। पहला (आभ्यन्तर यत्न) पाँच प्रकार का होता है— 1. स्पृष्ट, 2. ईषत्स्पृष्ट, 3. ईषद्विवृत, 4. विवृत, 5. संवृत। इनमें से स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्श अक्षरों का होता है। ईषत्स्पृष्ट प्रयत्न अन्तःस्थ अक्षरों का होता है। ईषद्विवृत प्रयत्न ऊष्म अक्षरों का होता है। पुनः स्वरों का विवृत प्रयत्न होता है। ह्रस्व 'अ' का उच्चारण काल में 'संवृत' प्रयत्न होता है और प्रयोग-सिद्धि के समय केवल 'विवृत' प्रयत्न होता है।

व्याख्या — 'यत्न' का अर्थ है — प्रयास या कोशिश। वह यत्न दो प्रकार का होता है। एक वर्ण की उत्पत्ति से पूर्व और दूसरा वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात्।

जो वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है उसे 'आभ्यन्तर' और जो वर्ण की उत्पत्ति के पश्चात् होता है उसे 'बाह्य' कहते हैं। अब इनमें से प्रथम 'आभ्यन्तर' प्रयत्न पाँच प्रकार का होता है। यथा— 1. स्पृष्ट, 2. ईषत्स्पृष्ट, 3. ईषद्विवृत, 4. विवृत, 5. संवृत। वर्णों की उत्पत्ति में जिह्वा के अग्र, उपाग्र, मध्य तथा मूल भाग का उपयोग किया जाता है। जिह्वा को स्थान का छूना— 'स्पृष्ट', थोड़ा छूना— 'ईषत्स्पृष्ट', थोड़ा दूर रहना— 'ईषद्विवृत', दूर रहना— 'विवृत' तथा हटकर समीप रहना— 'संवृत' प्रयत्न कहलाता है।

स्पर्श अर्थात् 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त (25) वर्णों का 'स्पृष्ट' प्रयत्न है। इनके उच्चारण में जिह्वा को स्थान के साथ थोड़ा स्पर्शरूप प्रयत्न करना पड़ता है। अन्तःस्थ (य, व्, र्, ल्) वर्णों का 'ईषत्स्पृष्ट' प्रयत्न है। इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा को स्थान के साथ थोड़ा स्पर्शरूप यत्न करना पड़ता है। ऊष्म अर्थात् श्, ष्, स्, ह् वर्णों का 'ईषद्विवृत' प्रयत्न है। इन वर्णों के उच्चारण में जिह्वा को स्थान से थोड़ा दूर रखना चाहिए। स्वरों का 'विवृत' प्रयत्न है। इनके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से दूर रखना चाहिए। ह्रस्व अवर्ण का 'संवृत' प्रयत्न है। इसके उच्चारण में जिह्वा को स्थान से हटाकर उसके समीप रखना चाहिए।

इन सब प्रयत्नों का शिक्षा-ग्रन्थों में यथावत् वर्णन किया गया है। इन प्रयत्नों से व्याकरण में और कोई दोष तो नहीं आता किन्तु ह्रस्व अकार दीर्घ आकार का सवर्ण नहीं हो सकता क्योंकि ह्रस्व अकार का 'संवृत' और दीर्घ आकार का 'विवृत' प्रयत्न होता है। सावर्ण्य न होने से 'हिम+आलय' आदि में 'अकः सवर्ण दीर्घः' सूत्र नहीं लग सकेगा। इसकी निवृत्ति के लिए आचार्य पाणिनि ने इस शास्त्र में प्रक्रिया-अवस्था में ह्रस्व अकार को विवृत माना है। अतः दोनों की सवर्ण संज्ञा हो जाती है। इसका विस्तृत विवेचन आचार्य पाणिनि के अन्तिम सूत्र 'अ अ' के भाष्य में किया गया है। अब 'आभ्यन्तर' प्रयत्न के बाद 'बाह्य' यत्न का वर्णन किया जा रहा है—

बाह्यप्रयत्नस्त्वेकादशधा – विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽघोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनुदात्तः स्वरितश्चेति। खरो विवारः श्वासा अघोषाश्च। हशः संवारा नादा घोषाश्च। वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चाल्पप्राणाः। वर्गाणां द्वितीयचतुर्थीशलश्च महाप्राणाः।

अर्थ – बाह्य प्रयत्न ग्यारह प्रकार का होता है— 1. विवार, 2. संवार, 3. श्वास, 4. नाद, 5. अघोष, 6. घोष, 7 अल्पप्राण, 8 महाप्राण, 9, उदात्त, 10. अनुदात्त, 11. स्वरित। 'खर्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण विवार, श्वास तथा अघोष प्रयत्न वाले होते हैं। 'हश्' प्रत्याहार के अन्तर्गत आने वाले वर्ण संवार, नाद और घोष प्रयत्न वाले होते हैं। वर्गों के प्रथम, तृतीय, पंचम और 'यण्' प्रत्याहार के वर्ण अल्पप्राण प्रयत्न वाले होते हैं। वर्गों के द्वितीय चतुर्थ और 'शल' प्रत्याहार के वर्ण महाप्राण प्रयत्न वाले होते हैं।

व्याख्या – यद्यपि यह प्रसंग ध्वनिशास्त्र का है तथापि यहाँ विवार आदि का संक्षिप्त वर्णन अनुचित नहीं होगा।

विवार – वर्णोच्चारण के समय मुख के खुलने को विवार कहते हैं। जिन वर्णों के उच्चारण करते समय मुख खुलता है वे 'विवार' प्रयत्न वाले कहे जाते हैं।

संवार – वर्णोच्चारण के समय मुख के विकास न होने को 'संवार' कहते हैं।

श्वास – वर्णोच्चारण के समय श्वास चलने को 'श्वास' प्रयत्न कहते हैं।

नाद – वर्णोच्चारण के समय नाद अर्थात् गम्भीर ध्वनि होने को 'नाद' यत्न कहते हैं।

घोष-अघोष – वर्णोच्चारण के समय घोष अर्थात् गूँज का उठना 'घोष' तथा गूँज का न उठना 'अघोष' यत्न कहलाता है।

अल्पप्राण-महाप्राण – वर्णोच्चारण के समय प्राणवायु के अल्प उपयोग को 'अल्पप्राण' तथा अधिक उपयोग को 'महाप्राण' यत्न कहते हैं।

अब उपर्युक्त प्रकरण में आये हुए— 1. स्पर्श, 2. अन्तःस्थ, 3. ऊष्म, 4. स्वर, 5. जिह्वामूलीय, 6. उपध्मानीय, 7. अनुस्वार और 8. विसर्ग। इन आठ शब्दों की व्याख्या स्वयं ग्रन्थकार करते हैं –

कादयो मावसानाः स्पर्शाः। यणोऽन्तःस्थाः। शल ऊष्माणः। अच् स्वराः। ञ्क ञ्ख इति कखाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृशो जिह्वामूलीयः। ञ्प ञ्फ इति पफाभ्यां प्रागर्द्धविसर्गसदृश उपध्मानीयः। अं अः इत्यच् परावनुस्वारविसर्गौ।

अर्थ – 'क्' से लेकर 'म्' पर्यन्त स्पर्श वर्ण हैं। यण् (य्, व्, र्, ल्) वर्ण अन्तःस्थ हैं। शल् (श्, ष्, स्, ह्) वर्ण ऊष्म हैं। अच् प्रत्याहार में स्वर होते हैं। 'क्' तथा 'ख्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य 'जिह्वामूलीय' होता है। 'प्' तथा 'फ्' वर्ण से पूर्व (तथा अच् से परे) आधे विसर्ग के तुल्य 'उपध्मानीय' होता है। 'अं, अः' यहाँ अकार स्वर से परे क्रमशः अनुस्वार तथा विसर्ग हैं।

व्याख्या – प्रत्याहार सूत्रों में 'क्' से 'म्' तक मिलना सम्भव नहीं है। अतः कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग ये ही पच्चीस वर्ण स्पर्श-संज्ञक होते हैं। चूँकि इनका उच्चारण जिह्वा का स्थान के साथ स्पर्श होने से होता है; अतः इन्हें 'स्पर्श' वर्ण कहते

हैं। य्, व्, र्, ल् को अन्तःस्थ इसलिए कहते हैं क्योंकि ये स्वर और व्यंजन के बीच (अन्तः) स्थित होते हैं। प्रत्याहार सूत्रों में भी इनको स्वरों और व्यंजनों के मध्य पढ़ा गया है। ये व्यंजन भी हैं और स्वर भी। अंग्रेजी में इन्हें अर्धस्वर कहते हैं। 'इको यणाचि', 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' सूत्र भी यही प्रकट करते हैं।

श्, ष्, स्, ह् ये चार वर्ण ऊष्म कहलाते हैं। चूँकि इनके उच्चारण से गर्म वायु निकलती है; अतः इन्हें 'ऊष्म' कहा जाता है। 'क्' या 'ख्' परे होने पर विसर्ग के स्थान पर जिह्वामूलीय तथा 'प्' या 'फ्' परे होने पर उपध्मानीय आदेश होते हैं। ये जिह्वामूलीय तथा उपध्मानीय आधे विसर्ग के सदृश होते हैं। यहाँ सादृश्य उच्चारण दृष्टि से न समझकर लिपि की दृष्टि से समझना चाहिए। अनुस्वार की आकृति - इस प्रकार ऊपर एक बिन्दुरूप होती है। यह सदैव स्वर के ऊपर लिखा जाता है किन्तु इसकी स्थिति स्वर के अनन्तर ही होती है। विसर्ग की आकृति 'ः' इस तरह दो गोल चिह्न के द्वारा प्रकट की जाती है। यह भी स्वर के बाद ही प्रयुक्त होता है।

उच्चारण स्थान बोधक सारिणी

कण्ठ	तालु	ओष्ठौ	मूर्धा	दन्ताः	नासिका	कण्ठ तालु	कण्ठ ओष्ठ	दन्त ओष्ठ	जिह्वामूलीय
अ	इ	उ	ऋ	लृ	ञ्	ए	ओ	व्	ःक
क्	च्	प्	ट्	त्	म्	ऐ	औ		ःख
ख्	छ्	फ्	ट्	थ्	ड्				
ग्	ज्	ब्	ड्	द्	ण				
घ्	झ्	भ्	ढ्	ध्	न्				
ङ्	ञ्	म्	ण्	न्	-				
ह्	य्	ःप	र्	ल्					
:	श्	ःफ	ष्	स्					

आभ्यन्तर प्रयत्न बोधक तालिका

स्पृष्टम्	ईषत्स्पृष्टम्	विवृतम्	ईषद्विवृतम्	संवृतम्
क् च् ट् त् प्	य्	अ	श्	ह्रस्वस्य
ख् छ् ट् थ् फ्	व्	इ	ष्	अवर्णस्य
ग् ज् ड् द् ब्	र्	उ	स्	उच्चारणकाले
घ् झ् ढ् ध् भ्	ल्	ऋ	ह्	केवलम्
ङ् ञ् ण् न् म्		लृ		
		ए		
		ओ		
		ऐ		
		औ		

विवार, श्वास, अघोष	संवार, घोष	नाद	अल्पप्राण	महाप्राण	उदात्त, अनुदात्त स्वरित
क् ख्	ग् घ् ङ्		क् ग् ङ्	क् ख्	अ
च् छ्	ज् झ् ञ्		च् ज् ञ्	च् छ्	इ
ट् ढ्	ड् ढ् ण्		ट् ड् ण्	ट् ढ्	उ
त् थ्					लृ
प् फ्	ब् भ् म्		प् ब् भ्	प् फ्	ए
श् ष् स्	य्, व्, र्, ल्		य् व्	श्	ओ
	ह्		र्, ल्	ष्	ऐ
	(सभी स्वर)		(सभी स्वर)	स्	औ
				ह्	

संज्ञासूत्र – अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः ।। 1। 169 ।।

वृत्ति – प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः। अविधीयमानोऽणु उदिच्च सवर्णस्य संज्ञा स्यात्। अत्रैवाण् परेण णकारेण। कु, चु, टु, तु, पु एते उदितः। तदेवम्— 'अ' इति अष्टादशानां संज्ञा, तथेकारोकारौ। ऋकारस्त्रिंशतः। एवं लृकारोऽपि। एचो द्वादशानाम् अनुनासिकाननुनासिकभेदन यवला द्विधा। तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः संज्ञा।

अर्थ – जिसका विधान किया जाता है उसे 'प्रत्यय' कहते हैं। अतः अप्रत्यय अर्थात् न विधान किया हुआ 'अण्' सवर्णों की तथा अपनी संज्ञा वाला हो। केवल इसी सूत्र में 'अण्' प्रत्याहार पर णकार से गृहीत होता है। 'कु, चु, टु, तु, पु' इनको उदित कहते हैं। इस प्रकार 'अ' यह अठारह प्रकार की संज्ञा वाला हो जाता है। इसी प्रकार 'इ' और 'उ' भी। ऋकार तीस प्रकार की संज्ञा वाला होता है। इसी प्रकार लृकार भी 'एच्' प्रत्याहार का प्रत्येक वर्ण बारह-बारह प्रकार की संज्ञा वाला है। अनुनासिक और अननुनासिक भेद से य्, व्, ल् दो प्रकार के होते हैं। अतः अननुनासिक 'य् व् ल्' ही दो-दो की संज्ञा होंगे।

व्याख्या – 'अण्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'उदित्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सवर्णस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन, च इत्यव्ययपदम्। 'अप्रत्ययः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'स्वस्य' षष्ठी विभक्ति एकवचन। (चकार के बल से 'स्व' रूपं शब्दस्याऽशब्दसंज्ञा' सूत्र से 'स्वम्' पद आकर षष्ठ्यन्त में विपरिणमित होकर 'स्वस्य' बनता है)। **समास** – उत् = ह्रस्व उवर्णः, इत् यस्य स उदित्, बहुव्रीहि समासः। प्रतीयते विधीयते इति प्रत्ययः, न प्रत्ययः अप्रत्यय, नञ् तत्पुरुषसमासः अर्थात् (अप्रत्ययः) न विधान किया हुआ 'अण्' और 'उदित्' (सवर्णस्व) सवर्णियों की (च) तथा (स्वस्य) अपने स्वरूप की संज्ञा वाला होता है।

'प्रत्यय' शब्द यहाँ यौगिक है इसका अर्थ है – 'विधान किया हुआ', यथा – 'इको यण् अचि' सूत्र में 'यण्' और 'सनाशंस भिक्ष उः' सूत्र में 'उ' विधान किया गया है। अतः ये

दोनों प्रत्यय हैं। 'अण्' तथा 'इण्' प्रत्याहार दो प्रकार से बन सकते हैं – 1) अ, इ, उ, ण, के णकार से और दूसरा 'लण्' के णकार से। कहाँ पूर्व णकार से तथा कहाँ पर णकार से इनका ग्रहण करना चाहिए? यह शंका यहाँ उठती है। इस विषय में भाष्य-सम्मत निर्णय यह है कि 'इण्' प्रत्याहार सर्वत्र 'लण्' वाले पर णकार से तथा 'अण्' प्रत्याहार 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र को छोड़कर सर्वत्र 'अ इ उ ण्' वाले पूर्व णकार से ग्रहण होता है। इस नियम से यहाँ 'अण्' प्रत्याहार 'लण्' वाले पर णकार से ग्रहण होता है।

तो, यहाँ 'अण्' प्रत्याहार में 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल्' इन चौदह वर्णों का ग्रहण होता है। यदि ये अविधीयमान होंगे तो, अपनी और अपने सवर्णियों की संज्ञा होंगे, यथा – 'इको यण् अचि' में 'इक्' और 'अच्' अविधीयमान हैं – विधान नहीं किये गये हैं; (विधान तो 'यण्' ही किया जाता है)। अतः 'इक्' के अन्तर्गत चार वर्ण – 'इ, उ, ऋ, लृ' अपनी तथा अपने सवर्णियों की संज्ञा होंगे। अतः 'सुधी+उपास्य' यहाँ पर दीर्घ ईकार के स्थान पर भी 'यण्' हो जाता है। पुनः अच् प्रत्याहार के अन्तर्गत – 'अ इ उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ' ये नौ वर्ण भी अपनी तथा अपने सवर्णियों की संज्ञा होंगे। इससे 'दधि+आनय = दध्यानय' यहाँ दीर्घ आकार के परे होने पर भी यण् सिद्ध हो जाता है।

'कु, चु, टु, तु, पु' ये इस सूत्र में उदित माने गये हैं क्योंकि इनके उकार की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत् संज्ञा होती है। यद्यपि 'कु, चु, टु, तु, पु' इन समुदायों का कोई सवर्ण नहीं होता तथापि इन समुदायों के आदि वर्ण 'क, च, ट, त्, प्, के सवर्णों का तथा उनके स्वरूप का ग्रहण यहाँ समझना चाहिए। 'क' के सवर्ण 'ख, ग, घ, ङ' ये चार वर्ण हैं। अतः 'कु' कहने से इन चार वर्णों तथा पाँचवें अपने रूप 'क्' का ग्रहण होता है। इसी प्रकार 'चु, टु, तु, पु' को समझना चाहिए।

ध्यान देने की बात है कि 'उदित्' के साथ 'अप्रत्ययः' का सम्बन्ध नहीं है; अतः उदित् चाहे विधीयमान हो या अविधीयमान, प्रत्येक दशा में अपनी तथा अपने सवर्णियों की संज्ञा होगा। यथा 'चोः कुः' सूत्र में 'चु' अविधीयमान एवं 'कु' विधीयमान है। दोनों अपने तथा अपने सवर्णियों के ग्राहक होंगे।

अब अनन्तर – 'अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल्' ये संज्ञाएँ हैं। इनके संज्ञी निम्नवत् हैं—

'अ, इ, उ' = इन संज्ञाओं के अठारह-अठारह संज्ञी होते हैं।

ऋ, लृ = इन दोनों की 'ऋलृवर्णयोर्मिथः सावर्ण्यम् वाच्यम्' से सवर्ण संज्ञा हो जाने के कारण प्रत्येक वर्ण के 30-30 संज्ञी होते हैं।

ए, ओ, ऐ, औ = द्वस्व ना होने के कारण इनमें से प्रत्येक वर्ण के 12-12 संज्ञी होते हैं।

य, व, ल् = अनुनासिक और अननुनासिक भेद से ये दो प्रकार के होते हैं। अण् प्रत्याहार में अननुनासिक य, व, ल् का ही ग्रहण है। अतः अननुनासिक ही अपनी तथा दूसरे अनुनासिकों की संज्ञा होते हैं। यहाँ विशेष ध्यान देने की बात यह है कि दीर्घ तथा प्लुत वर्ण 'अण्' प्रत्याहार में न होने के कारण वे सवर्णों के ग्राहक नहीं होते।

केवल ह्रस्व वर्ण ही सवर्णों के ग्राहक (एच् दीर्घ ही) होते हैं। रेफ और ऊष्म वर्ण 'अण्' प्रत्याहार में होते हुए भी किसी अन्य सवर्णों के ग्राहक नहीं होते। शिक्षाकर इसमें प्रमाण हैं – 'रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति' अर्थात् रेफ और ऊष्म के सवर्ण नहीं होते।

संज्ञासूत्र – परः सन्निकर्षः संहिता ।। 14 ।। 109 ।।

वृत्ति – वर्णानामतिशयितः सन्निधिः संहितासंज्ञः स्यात् ।

अर्थ – वर्णों की अत्यन्त समीपता संहिता संज्ञक होती है।

व्याख्या – 'परः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'सन्निकर्षः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'संहिता' प्रथमा विभक्ति एकवचन। अर्थात् (परः) अत्यन्त (सन्निकर्षः) सामीप्य (संहिता) 'संहिता' संज्ञक होता है। दो वर्णों के मध्य आधी मात्रा से कम का व्यवधान सम्भव नहीं हो सकता; यही अत्यन्त समीपता 'संहिता' कहलाती है।

संज्ञासूत्र – हलोऽनन्तराः संयोगः ।। 14 ।। 17 ।।

वृत्ति – अज्भिरव्यवहिता हलः संयोगसंज्ञाः स्युः ।

अर्थ – अचों (स्वरों) के व्यवधान से रहित हलों (व्यञ्जनों) की संयोग संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'हलः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन, 'अनन्तराः' प्रथमा विभक्ति बहुवचन, 'संयोगः' प्रथमा विभक्ति एकवचन, **समास** – अविद्यमानम् अन्तरम् = व्यवधानं येषान्तेऽनन्तराः, बहुव्रीहि समासः। अर्थात् (अनन्तराः) जिनमें अन्तर का व्यवधान न हो, ऐसे (हलः) हल् (संयोगः) संयोग-संज्ञक होते हैं।

व्यवधान सदैव विजातीयों का ही होता है; सजातीयों का नहीं। 'हल्' के विजातीय 'अच्' हैं। अतः यदि हल् अचों के व्यवधान से रहित होंगे तो उनकी संयोग संज्ञा होगी। सूत्र में 'हलः' पद में बहुवचन विवक्षित नहीं है, किन्तु जाति में बहुवचन किया गया है। इससे दो या दो से अधिक हलों की संयोग संज्ञा हो जाती है, यथा – 'इन्द्रः' पद में नकार, दकार और रेफ की तथा 'कृष्टुः' में षकार, टकार और रेफ की संयोग संज्ञा समझनी चाहिए। ध्यान देने की बात है कि प्रत्येक हल् की संयोग संज्ञा नहीं होती अपितु सम्पूर्ण हल्-समुदाय की ही होती है। फिर चाहे वह हल्-समुदाय दो हलों का हो या दो से अधिक हलों का।

संज्ञासूत्र – सुप्तिङन्तं पदम् ।। 14 ।। 14 ।।

वृत्ति – सुबन्तं तिङन्तं च पदसंज्ञं स्यात् ।

अर्थ – सुबन्त और तिङन्त शब्द-स्वरूप की पद-संज्ञा होती है।

व्याख्या – 'सुप्तिङन्तम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन, 'पदम्' प्रथमा विभक्ति एकवचन। सुप् च तिङ् च सुप्तिङौ, इतरेतरद्वन्द्वः। सुप्तिङौ अन्तौ यस्य तत् सुप्तिङन्तम् (शब्दस्वरूपम्), बहुव्रीहि समासः। अर्थात् (सुप्तिङन्तम्) सुबन्त और तिङन्त शब्दस्वरूप (पदम्) पद-संज्ञक होते हैं। शब्दानुशासन का विषय होने के कारण 'सुप्तिङन्तम्' पद का 'शब्दस्वरूपम्' विशेष्य अध्याहार कर लिया जाता है। सुबन्त प्रकरण में 'स्वौजसमौट्' सूत्र में 'सु, औ, जस्, अम्, औट्, शस्, टा, भ्याम् भिस्, डे., भ्याम्, भ्यस्, डसि, भ्याम्, भ्यस्, डस्, ओस, आम्, डि., ओस्, सुप्' ये 21 सुप् प्रत्यय तथा तिङन्त

प्रकरण के 'तिप्तस्झिसिप्थसु' सूत्र में 'तिप्, तस्, झि, सिप्, थस्, थ, मिप्, वस्, मस्, त, आताम्, झ, थास्, आथाम्, ध्वम्, इड्, वहि, महिड्' ये अठारह तिड् प्रत्यय कहे गये हैं।

ये 'सुप्' या 'तिड्' जिनके अन्त में लगते हों, उन्हें पद कहा जाता है। जिसके अन्त में सुप् प्रत्यय लगते हैं, उसे सुबन्त (सुप्+अन्त) या संज्ञापद कहा जाता है और जिसके अन्त में 'तिड्' प्रत्यय लगते हैं, उसे तिडन्त (तिड्+अन्त) या क्रिया पद कहते हैं। जैसे – 'रामः, पुरुषः, देवस्य, कृष्णस्य, देवः' आदि सुबन्त पद हैं। पुनः 'पठति, गच्छति, खादति, चलति, धावति' आदि तिडन्त पद हैं। ध्यान देने की बात यह है कि इन प्रत्ययों से युक्त सम्पूर्ण समुदाय की ही पद संज्ञा होती है; केवल प्रवृत्ति या केवल प्रत्यय की नहीं।

बोध प्रश्न

1. निम्नलिखित प्रश्नों में सही विकल्प का चयन कीजिए –

- i) अल्पप्राण है –

(क) क्	(ख) छ्
(ग) ष्	(घ) ढ
- ii) लघुसिद्धान्तकौमुदी के लेखक हैं –

(क) पाणिनि	(ख) यास्क
(ग) पतञ्जलि	(घ) वरदराज
- iii) अयोगवाह है –

(क) उदित्	(ख) विवृत
(ग) संवृत	(घ) अनुस्वार
- iv) पद संज्ञा होती है –

(क) कृदन्त की	(ख) तिडन्त की
(ग) तद्धितान्त की	(घ) विसर्ग की
- v) संवृत 'प्रयत्न' होता है –

(क) अनुस्वार का	(ख) विसर्ग का
(ग) ह्रस्व अकार का	(घ) जिह्वामूलीय का

2. रिक्त स्थानों की पूर्ति कीजिए –

- i) यण् होते हैं।
- ii) ह्रस्व अकार संवृत होता है।
- iii) पाँच प्रकार के होते हैं।
- iv) क् से लेकर म् तक के वर्ण कहे जाते हैं।
- v) हश् प्रत्याहार में यत्न वाले वर्ण होते हैं।

3. नीचे दिए गए प्रश्नों में से सही/गलत कथन का चयन कीजिए –

- क) ज्, म्, ड्, ण्, न् का उच्चारणस्थान ओष्ठ है – (सही/गलत)

- ख) पद संज्ञा सुबन्त और तिङन्त दोनों की होती है – (सही/गलत)
- ग) क् ख् से पूर्व आधे विसर्ग के सदृश उपध्मानीय होता है – (सही/गलत)
- घ) विसर्ग का उच्चारण तालु से होता है – (सही/गलत)
- ङ) 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र में अण् पर णकार से ग्राह्य है – (सही/गलत)

अभ्यास प्रश्न

- विसर्जनीय के स्थान का शास्त्रीय विवेचन कीजिए।
- सुबन्त और तिङन्त में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
- 'हलोऽन्तराः संयोगः' सूत्र की व्याख्या कीजिए।

2.3 सारांश

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई के विधिवत् अध्ययन के द्वारा आप 'तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम्' से लेकर 'सुप्तिङन्तं पदम्' तक के सूत्रों का अर्थ-ज्ञान एवं उनकी उपयोगिता को समझ चुके हैं। यहाँ पर प्रत्येक वर्ण का उच्चारणस्थान तथा आभ्यन्तर एवं बाह्य प्रयत्नों का विस्तृत विवरण प्रस्तुत किया गया है। ग्रहणकशास्त्र 'अणुदित्सवर्णस्य चाऽप्रत्ययः' सूत्र के आलोक में सभी वर्णों के भेद-प्रभेदों का यथोचित वर्णन किया गया है। साथ ही संहिता संज्ञा, संयोग संज्ञा और पद संज्ञा का भी विस्तृत अर्थ बताया गया है।

2.4 शब्दावली

आस्य-प्रयत्न – 'आस्ये भवम् आस्यम्'। 'आस्य' का अर्थ है 'मुख'। मुख में होने वाला प्रयत्न ही आस्य-प्रयत्न कहलाता है। विभिन्न वर्णों का उच्चारण करने के लिए मुख के अन्दर जो प्रयत्न होता है, उसे आस्य-प्रयत्न कहते हैं।

अप्रत्यय – जिसका विधान सूत्र द्वारा न किया जाए, वह 'अप्रत्यय' कहलाता है।

उदित् – (उत्) ह्रस्व उकार जिसका 'इत्' हो, वह उदित् है, जैसे – कु, चु, टु, तु, पु इन सबमें विद्यमान अनुनासिक उकार (उँ) की 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' सूत्र से इत् संज्ञा हुई है, अतः ये उदित् हैं।

अल्पप्राण – 'प्राण' का अर्थ है— वायु। जिस वर्ण के उच्चारण में कम वायु मुक्त होती है, वह 'अल्पप्राण' है। वर्णों के प्रथम, तृतीय, पंचम और 'यण्' प्रत्याहार के वर्ण अल्पप्राण कहे जाते हैं।

महाप्राण – वर्णों के द्वितीय, चतुर्थ वर्ण तथा शल् प्रत्याहार के वर्ण 'महाप्राण' कहे जाते हैं।

संयोग संज्ञा – जिन दो या दो से अधिक वर्णों के बीच किसी स्वर का व्यवधान न हो, उन्हें 'संयोग' कहते हैं, जैसे – कृष्णः यहाँ 'कृष्णः' पद में ष् ण् के बीच किसी स्वर का हस्तक्षेप नहीं है। अतः इसकी संयोग संज्ञा हुई।

संहिता – जब दो स्वरोँ के बीच आधी से भी कम मात्रा का व्यवधान हो तो उनकी संहिता संज्ञा होती है।

पद – सुबन्त (रामः, कृष्णः) एवं तिङन्त (पठति, चलति,) को 'पद' नाम से जाना जाता है।

2.5 कुछ उपयोगी पुस्तकें

वरदराजाचार्य, मूल लघुसिद्धान्तकौमुदी. गोरखपुर, गीताप्रेस.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या. गोविन्दाचार्य. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, चौखम्भा सुरभारती.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या. शास्त्री, धरानन्द. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, मोतीलाल बनारसी दास.

वरदराजाचार्य, हिन्दी व्या. शास्त्री, भीमसेन. लघुसिद्धान्तकौमुदी. (भाग-1-6), दिल्ली, भैमी प्रकाशन.

शास्त्री, चारुदेव. व्याकरण चन्द्रोदय. (भाग-1-3), दिल्ली, मोतीलाल बनारसीदास.

वरदराजाचार्य, सम्पा. एवं हिन्दी सिंह, सत्यपाल. लघुसिद्धान्तकौमुदी. दिल्ली, शिवालिक पब्लिकेशन.

2.6 बोध/अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

बोध प्रश्न

- (i) (क) क्, (ii) (घ) वरदराज, (iii) (घ) अनुस्वार, (iv) (ख) तिङन्त की, (v) (ग) ह्रस्व अकार का।
- (i) अल्पप्राण, (ii) उच्चारण के समय, (iii) आभ्यन्तर प्रयत्न, (iv) स्पर्श, (v) संवार, नाद, घोष।
- (क) गलत, (ख) सही, (ग) गलत (घ) गलत, (ङ) सही।

अभ्यास प्रश्न

इन प्रश्नों के उत्तर विद्यार्थी स्वयं लिखें।